इकाई 20 पश्चिम और दक्षिण भारत में गैर ब्राह्मण आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातों के बारे में जानकारी पा सकेंगे:

- पश्चिम और दक्षिण भारत में ब्रिटिश विचारधाराओं के साथ-साथ पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ।
- ब्रिटिश शासन और पारंपरिक समाज व्यवस्था के विरूद्ध पैदा हुई चुनौती का स्वरूप ।
- अलग-अलग क्षेत्रों में इन आंदोलनों का स्वरूप तथा इनकी प्रकृति में विभिन्नता ।
- इन आंदोलनों की मूल सीमाएँ ।

20.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ने न केवल ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के सैद्धान्तिक प्राधान्य के विरुद्ध बल्कि रूढ़ सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के विरुद्ध भी रूकावट पैदा की । क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर "बुद्धिजीवियों के एक समुदाय" के बनने के कारण पारंपरिक व्यवस्था की कमजोरियों के प्रति एक चेतना जागी । आधुनिक पश्चिम विचारधारा से ही इन कमजोरियों का सामना किया जा सकता था । फिर भी उपनिवेशवाद की भौतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का असर आधुनिक विचारधारा की उत्पत्ति पर पड़ा, और देश के विभिन्न भागों में ये विचारधाराएँ अलग-अलग आन्दोलनों के द्वारा सामने आईं । उन्नीसवीं सदी में ऐसे कई सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन हुए जिनका उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक और पारंपरिक संस्थाओं में सुधार करना तथा उनको नवजीवन प्रदान करना था । स्वतंत्रता के प्रति नए विचारों, तर्क, सहनशीलता और मानव प्रतिष्ठा के समर्थन के साथ-साथ जाति प्रथा की आलोचना की जाती थी क्योंकि इससे असमानताएँ और समाज में विभाजन तथा सती प्रथा, शिशु हत्या और बहुदेववाद जैसे अमानवीय आचार उत्पन्न होते थे । जातिगत असमानता और उनके साथ जुड़े श्रेणीबद्ध समाज के विरुद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक लड़ाईयाँ लड़ने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग एक जुट हो चुका था । इस वर्ग ने विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा और बराबर के सम्पत्ति अधिकारों जैसी

समस्याओं को लेकर नारी-समाज के सामान्य उद्धार के लिए भी काम किया । बुद्धिवाद (rationalism)और धार्मिक सार्वभौमवाद (religious universalism) निश्चय ही ऐसी दो महत्वपूर्ण विचारधाराएँ थीं जिनका उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने सहारा लिया और जिसने महाराष्ट्र में जोतिराव फुले जैसे अतिसुधारवादी सामाजिक समीक्षक को जन्म दिया । बुद्धिजीवियों का यह संघर्ष मोटे तौर पर निम्नलिखित विचारधारा या विश्व दृष्टिकोण पर आधारित था: ''सामंती समाज के प्रमुख मूल्यों का विरोध करने पर भी वे बुर्जुआ व्यवस्था के विशिष्ट मूल्यों को लागू और स्वीकार करने का समर्थन करते थे ।'' जैसा कि हाल के कुछ अतिसुधारवादी सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों की विशेषताओं से स्पष्ट है कि पश्चिमी उदारतावाद से प्रभावित इस विश्व दृष्टि का नतीजा यह हुआ कि कई पुरानी विचारधाराओं को छोड़ देना पड़ा । इसके बारे में आगे विस्तार से बताया जाएगा ।

20.2 महाराष्ट्र में सांस्कृतिक संघर्ष

महाराष्ट्र में पारंपरिक सामाजिक स्तरीकरण वर्णाश्रम धर्म से नियंत्रित था, जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक वर्गों की असमान जातिक्रम व्यवस्था के आधार पर समाज का विभाजन किया गया था । इस स्तरीकरण से नियंत्रित विभिन्न जातियों के बीच आपसी सामाजिक सम्बन्धों को अपवित्रता और पवित्रता के सख्त नियमों के आधार पर बनाए रखा गया । इस जाति व्यवस्था में ब्राहमण जाति सबसे ऊपर थी जिसे बहुत से अधिकार और सुविधाएँ मिली हुई थीं । धार्मिक विचारधाराओं के विकास के जरिए वे समाज पर सामाजिक नियंत्रण बनाए रखते थे । इस विचारधारा ने बहुत से अंधविश्वासों और अमानवीय आचारों को वैधता दी हुई थी । इस जाति व्यवस्था में सबसे नीचे स्तर पर अतिशूद्र या अछूत रखे गये थे जो शिक्षा और दूसरे अधिकारों से वंचित रहे ।

महाराष्ट्र में हिन्दू कुल जनसंख्या के 74.8 प्रतिशत थे । 1881 की जनगणना के अनुसार कुन्बी अथवा मराठा मुख्य समुदाय था जो कुल जनसंख्या का लगभग 55.25 प्रतिशत था । ग्रामीण समाज में कुन्बी आर्थिक रूप से भी समर्थ थे । धनी किसान वर्ग होने के नाते कृषि उत्पादन पर उनका ही नियंत्रण था । फिर भी, पारंपरिक विचारधारा और जाति प्रथा के असर ने उन्हें ब्राहमणों का ताबेदार बनाए रखा । दूसरी तरफ ब्राहमणों ने अपनी कर्मकाण्डी शक्ति, शिक्षा तथा ज्ञान पर एकाधिकार के बलबूते पर दूसरी जातियों पर काफी असर बनाए रखा । ब्रिटिश काल के दौरान, ब्राहमणों ने नई अंग्रेजी शिक्षा को सफलतापूर्वक अपनाया और उपनिवेशी शासन में छाए रहे । इसलिए अधिकतर नया बुद्धिजीवी वर्ग पहले से ही प्रगतिशील ब्राहमण जाति में से उभरा और प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों, जैसे शासकीय, आचार्य, नीचे दर्जे के दफ्तर शाह, लेखक, संपादक या वकील आदि, पर वे ही बने रहे । इस प्रकार के माहौल ने गैर-ब्राहमण जातियों में डर पैदा कर दिया ।

इस प्रकार की रूढ़ सामाजिक व्यवस्था की ईसाई मिशनरी और राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों दोनों ने ही खुलकर आलोचना की और इन्होंने पश्चिमी उदार विचारधारा को अपना लिया था । सुधार आंदोलनों को हम दो भिन्न शाखाओं में बाँट सकते हैं । जोतिराव गोविंद राव फुले जैसे शुरू के आमूल सुधारकों ने समानता और तर्कबुद्धिता के सिद्धांतों के आधार पर पारंपरिक संस्कृति और समाज में क्रान्तिकारी पुनर्गठन की कोशिश की । फिर भी, महादेव गोविन्द राणाडे (1842-1901) जैसे बाद के मध्यमार्गी सुधारकों ने पुरानी परम्पराओं और संस्कृति में कुछ परिवर्तन करने के बाद उन्हें अपनाने की बात कही । फुले की अतिसुधारवादी परम्परा ने ही महाराष्ट्र में गैर-ब्राहमण आंदोलन को जन्म दिया ।

20.2.1 जोतिराव गोविन्दराव फुले (1827-1890)

व्यक्तित्व

जोतिबा फुले का जन्म सन् 1827 में पुणे में माली परिवार में हुआ था । उनके पिता माली या फूलों के सौदागर थे । चूँकि फुले का जन्म दलित शूद्र परिवार में हुआ था, इसलिए वे अतिशूद्र अर्थात् ''महार'' और ''मांग'' जैसी अछूत जातियों की समस्याओं को आसानी से

16 ज्योतिबा फुले

समझ सकते थे । उन्होंने अपने आप को भी उनमें से एक समझा । उनकी शुरू की शिक्षा एक मिशन स्कूल में हुई, लेकिन 1833 में उन्हें इसे बीच में स्थगित करना पड़ा ।

1848 की एक घटना ने फुले को सामाजिक क्रांतिकारी बना दिया । जब वे अपने एक ब्राह्मण मित्र के विवाह में शामिल होने गए तब कुछ कट्टर ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र कहकर उनका अपमान किया और उन्हें वहाँ से चले जाने को कहा । इस अपमान ने जोतिबा को जाति भेदभाव और छूआछूत जैसी अमानवीय व्यवहार की जड़ों का पता लगाने के लिए मजबूर किया ।

समाज और अर्थव्यवस्था के प्रति विचारधारा

समाज और अर्थव्यवस्था की असलियत जानने के लिए फुले ने वेदों, मनु संहिता, पुराण, बुद्ध के विचार, बसेश्वर और तीर्थांकर की विचारधारा और मध्ययुगीन भक्ति सन्तों के हिन्दू धर्मग्रंथों को पढ़ा । उसके साथ-साथ उन्होंने पश्चिमी विचारधारा और ईसाई तथा इस्लाम धर्म ग्रन्थों को भी पढ़ा । सम्पूर्ण संस्कृति और परम्परा को फुले ने तर्कबुद्धिता और समानता की भावना की दृष्टि से परखा । जबकि समानता के सिद्धान्त ने जाति प्रथा, सत्तावादी परिवार संरचना और स्त्रियों की आश्रितता को पूरी तरह नकारा है और तर्कबुद्धिता के सिद्धान्त ने अन्धविश्वासों, कर्मकाण्डवाद और सांस्कृतिक व्यवहार की पारंपरिक धारणा को समाप्त करने की माँग की है । इसने अनुचित संस्थाओं का समर्थन करने वाले सभी पवित्र हिन्दू धर्मग्रन्थों को पूरी तरह से न मानने की माँग की थी । डॉ. अम्बेडकर की तरह फुले ने भी धर्मग्रन्थों को आम पुस्तकों की तरह पढ़ा और दोनों व्यक्तियों का मकसद सच्चाई का पता लगाना था । सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक मामलों के बारे में उनका दृष्टिकोण अतिसुधारवादी था ।

जोतिबा फुले जाति व्यवस्था को मानव समानता के खिलाफ़ मानते थे । विद्यमान जाति व्यवस्था, शूद्रों विशेषकर अछूतों के लिए कभी न खत्म होने वाली दासता को सुरक्षित करती थी । अछूतों को दिन में सड़कों पर घूमने की मनाही थी क्योंकि ऐसा करने से उनकी लम्बी परछाइयाँ ब्राह्मणों के घरों को अपवित्र कर सकती है । अतिशूद्रों के प्रति ब्राह्मणों के इस अमानवीय व्यवहार और उनको सामान्य मानव अधिकार से वंचित करने की व्यवस्था ने फुले को जाति व्यवस्था का विद्रोही बना दिया ।

फुले ने इतिहास की व्याख्या करने के बाद कहा था कि विदेशी आर्य लोगों ने मूल निवासियों यथा द्रविड़ लोगों को हराकर असमान जाति व्यवस्था लागू की । फिर शूद्र कहे जाने वाले मूल निवासियों का हमेशा शोषण करने के लिए उन्होंने जाति विभाजन का तथाकथित दैवी उद्‌भव ढूंढ निकाला । संगठित शूद्रों के समानतावादी अतीत के बारे में बताकर फुले ने गैर-ब्राह्मणों का मनोबल बढ़ाया और उन्हें सदियों पुरानी असमानता और सामाजिक अप्रतिष्ठा का विद्रोह करने के लिए संगठित किया ।

जब से हिन्दू धर्म ने जाति व्यवस्था को उचित ठहराया और उसे स्वीकृति दी, फुले ने इसे पूरी तरह से नकारा । वे मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे । अपने व्यंग्यात्मक लेखों द्वारा फुले ने हिंदू धर्म की असंगतियों को उजागर किया । उन्होंने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड और पुरोहिताई, कर्म-सिद्धांत, पुनर्जन्म और स्वर्ग की आलोचना की । फुले के लिए ईश्वर एक है और अवैयक्तिक है । उनका धर्म पुरुषों और स्त्रियों की स्वतंत्रता और समानता तथा श्रम गरिमा जैसी वास्तविकता के तैतीस सिद्धांतो पर आधारित है । फुले ने लिखा, "ब्राह्मण शूद्रों से वेदों को छिपाते हैं क्योंकि उनमें यह जानने के संकेत मिलते हैं कि आर्य लोगों ने किस प्रकार उनका दमन किया और उन्हें दास बनाया ।" निस्संदेह उन्होंने जनता की शिक्षा को मुक्तिदायक और क्रांतिकारी घटक के रूप में देखा । फुले के शब्दों में, "बिना किसी ताकत के समृद्धि नहीं, बिना नैतिकता के ताकत नहीं, बिना ज्ञान के नैतिकता नहीं और बिना शिक्षा के ज्ञान नहीं । जब तक शिक्षा द्वारा जनता के अज्ञान और निरक्षरता को खत्म नहीं किया जाएगा, तब तक वे अपनी मानसिक और शारीरिक दासता का विद्रोह नहीं कर सकेंगे । उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि जनता को किसान-वर्ग से चुने गए शिक्षकों से प्राथमिक शिक्षा दिलवाई जाय ।

हिन्दू समाज में स्त्रियाँ और अछूत सबसे ज्यादा पीड़ित थे । फुले ने कहा था कि स्त्रियों की मुक्ति समाज के दूसरे वर्गों की मुक्ति के साथ जुड़ी हुई थी । उन्होंने स्त्रियों को अनपढ़ रखने

और पुरुषों की दासता में रहने के लिए ब्राह्मणों को जिम्मेदार ठहराया । वे प्राधिकारवादी परिवार संरचना (authoritarian family structure) की जकड़ को तोड़ने की ओर बढ़े । फुले ने सब वर्गों की समानता के साथ-साथ पुरुष और स्त्रियों के बीच समानता की भी वकालत की । विवाहों के दौरान वे वर से यह वचन लेते थे कि वह वधु को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देगा ।

1885 में प्रकाशित पैम्फलेट "इशारा" (warning) में किसान वर्ग की आर्थिक समस्याओं के बारे में फुले के विचार छपे थे । खेतिहर मजदूरों और छोटे किसान की समस्याओं के बारे में जानकारी रखने वाले फुले ने उनके संघर्ष में उनका साथ दिया । मिसाल के तौर पर कोंकण के बटाईदार काश्तकारों का समर्थन किया और उनका शोषण करने वाले "खोटों" की आलोचना की । सिंचाई सुविधाएँ, ऋणभार, महाजनों को भूमि हस्तांतरण, लगान का बोझ जैसे तात्कालिक मामलों से चिंतित फुले किसी सुसंगत आर्थिक विचारधारा को प्रतिपादित करने में असफल रहे ।

फुले ने ब्रिटिश शासन को शूद्रों की दासता खत्म करने का एक हथियार सा समझा और उनके शासन में समाज में और ज्यादा क्रांतिकारी तबदीली की आशा थी । राजनीति में किसान को एक वर्ग की तरह प्रवेश कराने वाले वे पहले व्यक्ति थे । उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध किया क्योंकि वह किसान वर्ग की समस्याओं को हल करने में असफल रही थी । राष्ट्र की उनकी संकल्पना स्वतंत्रता और समानता पर आधारित थी

सक्रिय कार्यकर्ता

अपने विचारों के प्रसार के लिए फुले ने पत्र-पत्रिकाओं, पैम्फलेटों और पुस्तकों के प्रकाशन तथा भाषण और लेखन में मराठी भाषा का प्रयोग किया । अपने विचारो के प्रचार और आर्य वैदिक परंपरा के दमनकारी पक्ष को उजागर करने के लिए फुले ने मराठी में दीनबंधु नामक पत्रिका संपादित एवं प्रकाशित की । 1873 में गुलामी (slavery) नाम से निकाली गई अपनी पुस्तक में फुले ने ब्राहमण शासन के अधीन शूद्रों की दासता के ऐतिहासिक कारणों की अपनी संकल्पना को स्पष्ट किया और इसकी तुलना अमरीकी नीग्रो दासता से की । उन्होंने शेतकार्यांचा आसुदा (the whip cord of the peasantry) में किसानों की दुर्दशा के बारे में विस्तार से लिखा था ।

1870 आते-आते उदारतावादियों द्वारा चर्चित सामाजिक सुधार फुले द्वारा प्रवर्तित विचारधारा के बिल्कुल विपरीत दिखाई दिये । उदारतावादियों के विपरीत, तर्कबुद्धिता, समानता और मानवतावाद के सिद्धांतों के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का संपूर्ण पुनर्निर्माण करना फुले का लक्ष्य था । लोगों के दिमाग में असमानता के प्रति जागरूकता पैदा करना ही उनके संघर्ष का मूल उद्देश्य था । ब्राहमण साहित्य के आलोचनात्मक विश्लेषण और अभिव्यक्ति द्वारा फुले ने इस कार्य को पूरा किया ।

फुले ने अपनी विचारधारा को वास्तविक संघर्षो का रूप देने की भी कोशिश की थी । 1851 में उन्होंने एक स्कूल लड़कियों के लिए और एक शूद्रों के लिए खोला था । विधवाओं को संरक्षण और आश्रय दिया गया । उन्होंने अपने घर का पानी का हौदा शूद्रों के लिए खुलवा दिया, यहाँ से शूद्रों को पानी मिलता था । ब्राहमणवाद और उसकी विचारधाराओं से लड़ने के लिए 1875 में फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की । जमींदारों-महाजनों द्वारा अधिक किराए की वसूली का विरोध करने के लिए जुन्नार में फुले ने गरीब काश्तकारों को संगठित किया । इस संगठित समूह ने सरकार को किराए की उच्चतम सीमा निर्धारित करने के लिए मजबूर किया ।

इस प्रकार, फुले ने अपने पूरे जीवन काल मे दलित वर्ग का ही साथ दिया । उन्होंने असमान जाति व्यवस्था को हटाने और लोकतांत्रिक न्याय स्थापित करने के लिए काम किया । जातिगत असमानताओं और शूद्र जातियों की सामाजिक अधीनता तथा आर्थिक पिछड़ेपन के बीच संबंध के प्रति जोतिब फुले जागरूक थे । फिर भी, वे उपनिवेशी शासन की वास्तविक विशेषताओं को पहचानने में असफल रहे और अन्य उदारतावादियों की तरह वे भी इसकी ऐतिहासिक रूप से बढ़ती हुई भूमिका में विश्वास रखने लगे थे । कृषक संबंधों में आमूल परिवर्तन लाए बिना और उपनिवेशवाद को खत्म किए बिना फुले द्वारा कल्पित सामाजिक विद्रोह नहीं किया जा सकता था ।

20.2.2 प्रारंभिक बीसवीं सदी में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

1890 में जोतिबा फुले का स्वर्गवास होते ही उनके द्वारा चलाए गए सत्यशोधक आंदोलन का जोर कम होता गया । जुलाई 1913 में कोल्हापुर में वहाँ के छत्रपति साहू महाराज (1874-1922) ने सत्यशोधक समाज की स्थापना करके इस आंदोलन को फिर से शुरू किया । लेकिन तब भी इसका जोर अधिक नहीं रहा । साहू महाराज ने दलित वर्ग के छात्रों के लिए शैक्षिक संस्थान तथा छात्रावास शुरू करवाकर और छात्रवृत्तियाँ देकर निश्चय रूप से गैर ब्राह्मण आंदोलन को आगे बढ़ाया । 1913 और 1922 के बीच गैर-ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के सम्मेलनों से वे सक्रिय रूप से जुड़े रहे ।

साहू महाराज का यह गैर-ब्राह्मण आंदोलन उन उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण व्यापारियों और जमींदारों (सामंतो) के हाथो में चला गया जिन्होंने इसका प्रयोग अपने राजनैतिक लाभों के लिए किया । अपने तथा अपने समुदाय को वर्णाश्रम धर्म में क्षत्रिय दर्ज़ा दिलाने के लिए साहू महाराज ने लड़ाई लड़ी । यह फुले की विचारधारा के साथ विश्वासघात के सिवाय और कुछ नहीं था । और इस लड़ाई ने निम्न शूद्र जाति को उनकी सामाजिक अवनति और गरीबी के हवाले छोड़ दिया ।

1918 के बाद मद्रास में जस्टिस पार्टी के साथ मॉन्टेगू चेम्सफोर्ड सुधारों का सहारा लेकर साहू महाराज ने आंदोलन का प्रयोग पिछड़ी जातियों को परिषदों में विशेष राजनैतिक प्रतिनिधित्व दिलवाने के लिए किया । इस प्रकार सत्यशोधक आंदोलन अपने मुख्य उद्देश्य से हटकर उच्च जाति के गैर-ब्राहमण जमींदारों के लाभ के आंदोलन में बदल गया ।

20.2.3 आंदोलन का स्वरूप

अनिल सील जैसे इतिहासकारों का तर्क है कि परंपरागत शिक्षित जाति ब्राह्मणों ने अपने आपको औपनिवेशिक प्रणाली में जल्दी ढाल लिया था। उन्होंने व्यवसायों और नौकरशाही के अवसरों पर एकाधिकार जमाना शुरू कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप गैर-ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों के इस एकाधिकार के विरुद्ध आवाज उठाई। जोतिबा फुले के सामाजिक सुधारों का गहराई से विश्लेषण करने पर जाति व्यवस्था में असमानताओं के बारे में काफी जानकारी मिलती है। सामाजिक आश्रितता और शूद्रों के आर्थिक पिछड़ेपन के इस जाति व्यवस्था से संबंध के बारे में भी पता लगता है। फुले ने शूद्रों को अपनी जाति की आश्रितता के प्रति अपने व्यवहार में मौलिक परिवर्तन लाने पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए एक सैद्धांतिक आधार स्थापित किया।

फिर भी, इस आंदोलन में निहित कमजोरियों के कारण कोल्हापुर के साहू ने धीरे-धीरे मूल उद्देश्य की दिशा बदल दी। फुले ने लोगों के भौतिक हालात और उनकी संस्कृति के बीच की आवश्यक कड़ी को नहीं देखा। ब्रिटिश शासन के प्रति फुले के समर्थन ने किसानों के औपनिवेशिक शोषण पर पर्दा डाल दिया। जाति असमानता को पैदा करने वाली पुरानी सामंती सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने की शासकों की रुचि का भी फुले ने समर्थन किया।

बोध प्रश्न 1

1 वर्णाश्रम धर्म क्या है? उसमें अति शूद्रों की क्या स्थिति थी ?

....

....

....

....

....

2 जोतिबा फुले सामाजिक क्रांतिकारी क्यों बने?

....

....

....

....

....

....

3 जोतिबा फुले के मुख्य विचार क्या हैं?

....

....

....

....

....

4 सत्यशोधक समाज क्या है?

....

....

....

....

....

5 जोतिबा फुले की मूल विचारधारा से साहू महाराज की विचारधारा किस प्रकार भिन्न थी?

....

....

....

....

....

20.3 दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

मद्रास प्रदेश में 3.3 प्रतिशत हिन्दू ब्राह्मण थे। परंतु अनुष्ठानों के प्रधानता वाले पारंपरिक अधिक्रम में उन्हें दूसरी जातियों से ऊँचा समझा जाता था। परंपरा से पढ़ी लिखी जाति होने के कारण ब्राह्मण अंग्रेजी शिक्षा जल्दी अपना लेते थे। ये व्यवसायों और औपनिवेशिक नौकरशाही के अवसरों पर एकाधिकार जमाने में समर्थ थे। इससे गैर-ब्राह्मण समुदाय में बैर और जलन पैदा होने लगी जिसके कारण गैर-ब्राह्मण आंदोलन शुरू हुआ। नौकरी के अवसरों ने ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण के बीच के झगड़े को बढ़ाया, परंतु इस झगड़े का असली कारण उनके सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक हालात थे।

20.3.1 तमिलनाडु में आत्म-सम्मान आंदोलन

हाल की ऐतिहासिक रचनाओं से पता लगता है कि तमिल के पुनर्जागरण की वजह से द्रविड़ चेतना विकसित हुई और उसका राजनैतिक प्रदर्शन गैर-ब्राह्मण आंदोलन के रूप में हुआ। 1887 और 1904 के बीच जो ग्रंथ प्रकाशित हुए वे तमिल क्लासिक कृत्तियों जैसे पत्तुप्पाट्टु, मणिमेखलाई, सिलप्पातिकारम् पर आधारित थे। तमिल विद्वानों ने इनके आधार पर एक ऐसी क्लासिकी द्रविड़ सभ्यता का चित्र प्रस्तुत किया जो आर्य और उनकी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न था। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि सबसे पहले यूरोपीय विद्वान काल्डवैल ने तमिल संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा को विकसित किया था और बाद में तमिल विद्वानों ने इसका विस्तार किया। तमिल विद्वानों ने यह बताने की भी कोशिश की थी कि आर्यों ने शैव सिद्धांत दर्शन जैसी उच्च्व द्रविड़ धार्मिक पद्धति को तोड़-मरोड़ दिया था। आर्यों ने ही वेदों

की शिक्षा और जाति पद्धति को दक्षिण भारत के लोगों पर थोपा था। यही वह फिर से खोजा हुआ विशिष्ट सांस्कृतिक अस्तित्व था जो 1916 के बाद के गैर-ब्राह्मण आंदोलन में दिखाई पड़ता था।

20.3.2 जस्टिस पार्टी और गैर-ब्राह्मण आंदोलन

1916 में मद्रास में गैर-ब्राह्मणों के रोष ने राजनैतिक रूप ले लिया और परिणामस्वरूप दक्षिण भारतीय उदारतावादी संघ का गठन हुआ। इसे जस्टिस पार्टी के नाम से जाना जाता था। इस पार्टी का दावा था कि इसमें मद्रास प्रेसीडेन्सी के मुसलमानों, इसाइयों और अछूतों सहित सभी गैर-ब्राह्मणों के हितों का प्रतिनिधित्व था। टी. एन. नायर, पी. त्यागराया चेट्टी और सी. नटेश मुदालियार इस संगठन के संस्थापक थे। शिक्षा, लोक नियुक्तियों और स्थानीय बोर्डों में नामजदगी में छूट देने की माँगों को प्रांतीय विधान परिषद् में आरक्षित सीटों की मूल माँग के साथ शामिल करके जस्टिस पार्टी के नेताओं ने उन्हें धीरे-धीरे व्यापकता दी।

1930 के अंत में, व्यावसायिक मध्यवर्गीय गैर-ब्राह्मण वर्ग का विकास और अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए जस्टिस पार्टी की रचना जैसी राजनैतिक गतिविधियों का बोलबाला था। फिर भी, जस्टिस पार्टी का सामाजिक आधार वे गैर-ब्राह्मण थे जो प्रमुख जमींदार और शहरी व्यापारी थे, इसलिए इस पार्टी ने उन सामंती और व्यापारिक वर्गों के राजनैतिक स्वार्थों के लिए काम किया।

1920 में जस्टिस पार्टी में भीतर ही विरोध पैदा हो गया जो कि स्वाभाविक था। कुछ लोगों ने महसूस किया कि पार्टी को गैर ब्राह्मण समाज और संस्कृति के सुधार और उसके पुर्नजीवन के लिए काम करना चाहिए और अपने आपको नौकरियों और पदों की खोज तक सीमित नहीं रखना चाहिए। सांस्कृतिक सुधार के माध्यम से सामाजिक उत्थान की ललक सामंती और व्यापारिक नेतृत्व के संकीर्ण सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य द्वारा पूरी नहीं हो सकी। दूसरी ओर, 1920-22 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते हुए स्वरूप ने अधिकांश गैर ब्राह्मण कृषक समूहों को अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया। विशेषकर 1927-28 के बाद व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन जस्टिस पार्टी के ऊपर छा गया। ऐसे समय में पार्टी का मोह भंग हो जाने की वजह से ई.वी.आर. नायकर जैसे गैर ब्राह्मण बुद्धिजीवी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया और उन्होंने आत्म-सम्मान नाम से एक लोकप्रिय आंदोलन चलाया। इस आंदोलन ने मद्रास में गैर ब्राह्मण आंदोलन को एक नया मोड़ और जीवन दिया।

20.3.3 ई. वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) और आत्म-सम्मान आंदोलन

व्यक्तित्व

आमतौर से पेरियार नाम से विख्यात ई. वी. रामास्वामी नायकर का जन्म 1879 में इरोड में हुआ था। उन्होंने कम उम्र में ही जाति पवित्रता के नियमों का विरोध किया और वे अंतर्जातीय भोजों में भाग लेते थे। गांधीवादी होने के नाते केरल में वेकोम में हुए सत्याग्रह के वे नायक बने। उन्होंने हरिजनों का जोरों से साथ दिया। 1922 तक जिस समय वे कांग्रेस के सदस्य थे, पेरियार ने हिंदू पुराण विद्या त्याग दी थी। उन्हें यह विश्वास था कि यह पुराण विद्या एक भ्रष्ट प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता था। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि मनु धर्मशास्त्र और रामायण को जला दिया जाए। 1925 में कुडी अरासु नामक अखबार चलाकर वे एक अतिसुधारवादी समाज सुधारक बन गए। वास्तव में पेरियार के मद्रास प्रांतीय कांग्रेस समिति के सचिव पद से इस्तीफा दे देने का कारण कांग्रेस द्वारा चलाए गए एक गुरुकुल (स्कूल) में ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों के खाने की व्यवस्था अलग-अलग होना था। 1925 में जब उन्होंने कांग्रेस छोड़ी तब उन्होंने घोषित किया "अब से मेरा काम कांग्रेस को भंग करना है।" 1927 में वर्णाश्रम धर्म के मुद्दे पर उन्होंने गांधी जी से भी नाता तोड़ लिया था। सोवियत संघ से लौटने के बाद पेरियार ने अपनी द्रविड़ विचारधारा में मार्क्सवाद का कुछ अंश भी जोड़ दिया था। मई 1933 में कुडी अरसु नामक अपने आलेख में उन्होंने लिखा कि "आत्म-सम्मान आंदोलन का सही मार्ग है। पूँजीपतियों और धर्म की क्रूरताओं को खत्म करना ही अपनी समस्याओं को सुलझाने का एक मात्र रास्ता है।"

17 रामास्वामी नायकर

समाज संबंधी विचार

पेरियार ने धर्म और ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता पर प्रहार किया। महाराष्ट्र में फुले की तरह उन्होंने जाति व्यवस्था की आलोचना की। उन्होंने मानव जाति की मौलिक समानता और गरिमा की संकल्पना का प्रचार किया । वही एक ऐसे सुधारक थे जिन्होंने गरिमा और समानता की अपनी संकल्पना को समाज के सबसे अधिक असहाय वर्ग यथा स्त्रियों तक पहुँचाया। पेरियार के आत्म-सम्मान आंदोलन ने परिवार और समाज में स्त्रियों की अश्रितता की स्थिति को बदलने की कोशिश की। उन्होंने अपने कुडी अरासु अखबार के जरिए अपनी इस विचारधारा को लोकप्रिय बनाने की कोशिश की तथा स्त्रियों को वह सम्मान दिया, जो उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता और स्वायत्तता को मान्यता देने से मिल सकता था। अब हम पेरियार की क्रांतिकारी विचारधारा का बारीकी से अध्ययन करेंगे।

पेरियार का कहना था कि धर्म और शास्त्र बुद्धिवाद के विरोधी थे। उन्होंने धर्म को गैर-ब्राह्मणों और स्त्रियों के निम्न सामाजिक स्थिति का जिम्मेदार ठहराया। जन्म, मरण और विवाह समारोहों में पंडितों की सेवाएँ न लेने के लिए गैर ब्राह्मणों को उत्साहित किया गया। बिना ब्राह्मण पुरोहित के जो आत्म-सम्मान विवाह संपन्न हुए थे वे बहुत लोकप्रिय हुए। इस प्रकार के विवाहों में वर-वधु एक सीधा सादा वचन लेते थे कि वे जीवन भर एक दूसरे को बराबर का साथी मानेंगे, और फिर एक दूसरे को हार पहनाते थे। वहाँ पर उपस्थित बुज़ुर्ग उनको आशीर्वाद देते थे। यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि ऐसे कई विवाह अंतर्जातीय होते थे।

जोतिबा फुले की तरह पेरियार भी जाति और धर्म के बीच कोई भेद नहीं मानते थे। उनके विचार में धन पर आधारित असमानता की अपेक्षा जाति पद्धति से उत्पन्न सामाजिक असमानता हानिकारक अधिक थी ।

सक्रिय कार्यकर्त्ता

आत्म-सम्मान आंदोलन ने स्त्रियों की आश्रितता को प्रबल जाति पद्धति के संदर्भ में देखा था। सामाजिक संगठन के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में धर्म और धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करते हुए पेरियार ने समानता और न्याय के आधार पर समाज की रचना करने की बात कही थी। उन्होंने स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा पर बल दिया था।

विधवा विवाह और जन्म नियंत्रण जैसे मामलों में पेरियार के रुख से उनके सामाजिक अतिसुधारवाद के बारे में पता लगता था। वे मानव और शास्त्रों के इस अधिकार को चुनौती देते थे जो यह निर्णय करता था कि विधवा को विवाह करना चाहिए अथवा नहीं। पेरियार ने तलाक के अधिकार को स्त्री का विशेषाधिकार माना। पेरियार ने कहा, "हमारे सभी विवाह कानून स्त्रियों को दासी बनाने के लिए बनाये गये हैं। अनुष्ठान इस वास्तविकता को छिपाने के लिए किये जाते हैं"। पेरियार ने तलाक के अधिकार का बलपूर्वक समर्थन किया क्योंकि यह स्त्रियों को सुख, गरिमा और स्वतंत्रता दिलाने में सहायक था। पेरियार की नज़र में स्त्रियों की स्वतंत्रता जन्म नियंत्रण पर केंद्रित थी। सरकार का अनुमोदन न होते हुए भी उन्होंने लोगों से जन्म नियंत्रण के उचित तरीके अपनाने के लिए कहा जन्म नियंत्रण के पक्ष में जनमत बनाने के लिए आत्म-सम्मान आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं ने इस विषय पर साहित्य बाँटा। स्त्रियों के सतीत्व या कर्पु की पैतृक धारणा पर भी पेरियार ने प्रहार किया।

सीमाएँ

पेरियार के आंदोलन का भौगोलिक विस्तार छोटे शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों में होते हुए भी उसका सामाजिक आधार उच्च गैर-ब्राह्मण जातियों तक ही सीमित था। यही पेरियार के सामाजिक अतिसुधारवाद तथा धर्म, जाति पद्धति और स्त्रियों के उत्थान के प्रति उसकी लड़ाई में मूल रुकावट थी।

इस प्रकार, संस्कृति और समाज में संरचनात्मक परिवर्तन तथा द्रविड़ों की मानसिक दासता की स्वतंत्रता के लिए किए गए आत्म-सम्मान आंदोलन का व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पेरियार ने निश्चय किया कि इस सामाजिक संघर्ष को बढ़ाकर राजनैतिक क्षेत्र में ले जाया जाए। 1944 में द्रविड़ कषगम दल बनाने के उद्देश्य से उन्होंने

आत्म-सम्मान लीग को जस्टिस पार्टी के साथ मिला दिया। ऐसा करने से पेरियार के पहले के सामाजिक सुधार आंदोलन का स्वरूप बदल गया। इसके बाद से द्रविड़ या गैर-ब्राह्मण आंदोलन संकीर्ण निर्वाचन राजनीति से ही ज्यादा से ज्यादा जुट गया। इससे ब्राह्मण संस्कृति और जाति पद्धति के विरुद्ध चलाया गया पेरियार का सैद्धांतिक संघर्ष कमजोर पड़ गया।

20.3.4 आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन

आंध्र में गैर ब्राह्मणों ने 'ब्राह्मणेतर उदयम' शुरू किया जिसका मतलब आंदोलन था। यह आंदोलन मूल रूप से कम्मा, रेड्डी, बलीजा और वेलमा जैसे गैर-ब्राह्मण समूहों के सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान के लिए किया था। पर्याप्त जमींदारी और आर्थिक प्रभुत्व वाले इन कृषक समूहों में आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा या पारंपरिक आनुष्ठानिक हैसियत की कमी थी, जिसकी वजह से वे समाज में ऊँची सामाजिक हैसियत का दावा नहीं कर सकते थे। निस्संदेह उन्होंने आनुष्ठानिक हैसियत और सरकारी नौकरियों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार पर प्रहार किया।

उनके आंदोलन मूल कारण इस बात में निहित था कि वे सामाजिक और सांस्कृतिक लाभों से वंचित थे गैर-ब्राह्मण जमींदारों और धनी उच्च वर्ग ने कष्ट झेला क्योंकि ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र वर्ग के साथ मिला दिया था।

कुछ विशिष्ट घटनाओं ने आंदोलन के लिए प्रेरणा का काम किया। यह कहा जाता था कि ब्राह्मण शिक्षकों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को वेदों का अध्ययन करने के अधिकार से वंचित कर दिया था। कृष्णा जिले के कोत्तवरम गाँव में ब्राह्मणों ने कम्मा जाति द्वारा अपने नाम के बाद "दास" के स्थान पर "चौधरी" का प्रयोग करने का विरोध किया। कृष्णा जिले के ब्राह्मणों ने एक पंजीकृत नोटिस दायर किया कि कम्मा जाति को संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अमृतालूर में ब्राह्मणों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को भगा दिया था क्योंकि वे शूद्रों की उपस्थिति से भड़क उठे थे और वे सोचते थे कि शूद्रों को वेदों को सुनने का कोई अधिकार नहीं है। एक विख्यात गैर-ब्राह्मण नेता त्रिपुरानेबी रामास्वामी चौधरी (1887-1943) ने ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। एक घटना यह है कि उनकी साहित्य में रुचि होने के कारण एक ब्राह्मण शिक्षक ने उन्हें झिड़क दिया था। उस शिक्षक ने कहा "तुम शूद्र हो। श्लोक लिखना तुम्हारे लिए पाप है संस्कृत ईश्वर की भाषा है। इसको पढ़ना शूद्रों के लिए महापाप है।" यही वह सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण था जिसने आत्म-सम्मान आंदोलन को मजबूत बनाया, विशेषकर उस घटना ने जो 1916 में कोल्लूर में घटी थी।

1916 में गुन्टूर जिले के कोल्लूर गाँव में 'शूद्र' शब्द का अर्थ निश्चित करने के लिए अंग्रेजी पढ़े हुए उच्च जाति के हिन्दू गैर ब्राह्मणों ने एक अधिवेशन बुलाया। वे इस हद तक आगे बढ़ गये कि राम, कृष्ण और दूसरे धर्मग्रंथों के नायकों के प्रतीकों पर संदेह करने लगे। "शूद्र" वर्ग की परिभाषा करने की प्रक्रिया में उन्हे सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मणों से ऊँचे वर्ग का माना और महाकाव्यों की फिर से व्याख्या की। इस व्याख्या में इस बात पर प्रकाश डाला गया कि आर्यों की तुलना में द्रविड़ों ने सामाजिक और आनुष्ठानिक अन्याय को अधिक सहन किया था। त्रिपुरानेनी जैसे नेताओं द्वारा विकसित विचारधारा लगभग फुले और पेरियार द्वारा प्रस्तुत की गई मौलिक विचारधारा के समान थी। त्रिपुरानेनी ने पवित्र ग्रंथों की प्रामाणिकता को चुनौती दी। उन्होंने तर्क दिया कि विदेशियों की तरह आर्यों ने इस देश की द्रविड जाति पर अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था थोप दी। जाति पद्धति आर्यों की देन थी जिसे धर्म ने बनाए रखा था। गैर ब्राह्मण नेताओं ने इस तथ्य को भी उजागर किया कि अल्पसंख्यक होते हुए भी ब्राह्मणों ने पश्चिमी शिक्षा, नौकरियों और व्यवसायों पर एकाधिकार कर रखा था। उन्होंने "सेवाओं के गैर ब्राह्मणीकरण" की माँग की।

विख्यात विद्वान त्रिपुरानेनी ने अपना सारा जीवन तटीय आंध्रा में आत्म-सम्मान आंदोलन के प्रचार में लगाया था। उनका प्रहार "ब्राह्मणवाद" पर था न कि ब्राह्मणों पर था। उन्होंने पवित्र ग्रंथों और धर्मग्रंथों की व्याख्या यह दिखाने के लिए की थी कि प्रसिद्ध धर्मशास्त्रों के माध्यम से किस प्रकार शूद्रों को ब्राह्मणों के अधीन रखा गया। "कुरूक्षेत्र संग्रामम" में

त्रिपुरानेनी ने यह कहा है कि वास्तव में पांडवों की तुलना में कौरव अधिक ईमानदार थे और पांडवों को शासन करने का कोई अधिकार नहीं था। उनकी कृति **शंबुक**-वध में शूद्रों के विरुद्ध आर्यों की बल प्रयोग की-राजनीति को उजागर किया गया है। वशिष्ठ के प्रेरित करने पर राजा श्री राम ने वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के नाम पर शंबूक नामक शूद्र का वध किया था क्योंकि वह उस पवित्र ज्ञान का प्रचार कर रहा था जिससे ब्राह्मणों ने शूद्रों को वंचित कर रखा था।

त्रिपुरानेनी ने अपने साहित्य के माध्यम से लोगों की जागरूकता को बदलने का प्रयास किया। वे स्त्रियों और शूद्रों को "शास्त्रों की दासता" से मुक्ति दिलाकर उनके उद्धार के पक्षपाती थे। वे उस समय के पुरोहित प्रधान हिंदू पंथ को एक उदारवादी, मुक्त समाज में बदलना चाहते थे। उनके द्वारा स्थापित पारंपरिक विवाह पद्धति ही उनका सबसे अधिक सफल सुधार था। कम्मा जाति ने स्वसनोहा पौरोहित्यम करना शुरू कर दिया था अथात् विवाह सम्बन्धी अनुष्ठान उनके समुदाय के पुरोहित ही करवाने लगे थे। त्रिपुरानेनी ने अपनी पुस्तक विवाह विधि में विवाह संस्कारों को तेलुगु भाषा में व्याख्या की है क्योंकि अधिकांश संस्कृत मंत्र शूद्रों की समझ के बाहर थे।

1920 और 30 के दशकों में किए गए आत्म-सम्मान आंदोलन ने अंतर्जातीय भोज (गैर-ब्राह्मणों में), अंतर्जातीय विधवा विवाह और आधुनिक शिक्षा का विकास करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्राहमणों के सामाजिक और आनुष्ठानिक प्रभुत्व को तोड़ने के इस प्रयास से जातीय राजनीति और गैर-ब्राहमण राजनैतिक जागरूकता पैदा हुई। सामान्य स्तर पर गैर-ब्राहमण बुद्धिजीवियों तथा कृषक वर्ग के बड़े भाग ने राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया। उदाहरण के लिए, त्रिपुरानेनी एक प्रतिष्ठित राष्ट्रवादी थे।

संक्षेप में, ब्राहमणों के सामाजिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व के विरुद्ध गैर-ब्राहमण बुद्धिजीवियों की सांस्कृतिक प्रतिक्रिया स्वरूप ही आंध्र में आत्म-सम्मान आन्दोलन हुआ था। बुद्धिजीवी नेताओं ने पवित्र ग्रंथों की पुनर्व्याख्या करने पर बल दिया। फिर भी उसमें एक दोष यह था कि यह आंदोलन केवल उच्च जाति के गैर-ब्राहमणों की समस्याओं से संबंधित था और नीचे के तबके के हरिजनों को नज़रअंदाज़ कर दिया गया था। इसका उद्देश्य महाराष्ट्र की जाति व्यवस्था को पूरी तरह मिटाना नहीं था बल्कि उच्च जाति के गैर-ब्राहमणों को ऊपर रख कर जाति व्यवस्था का फिर से निर्माण करना था ।

20.3.5 कर्नाटक में गैर-ब्राहमण आंदोलन

1901 की जनगणना में एकीकृत जाति के रूप में गिने जाने से पहले ही कर्नाटक की प्रधान जाति वोक्कालिग का उपविभाजन हो गया था। एक इतिहासकार का कहना है, "इस वर्गीकरण से गैर-ब्राहमण आंदोलनकर्त्ताओं को सामूहिक रूप से संगठित होने का महत्त्तपूर्ण आधार मिला।" विभिन्न जाति संघों द्वारा अंदर ही अंदर एकता के गंभीर प्रयास किए गए। 1905 में लिंगायत जाति ने मैसूर लिंगायत शिक्षा निधि संघ की स्थापना की, जबकि 1906 में वोक्कालिग जाति ने कोक्कालिगार संघ बनाया। फिर भी, यही एक गैर-ब्राहमण आंदोलन था जिससे इन जाति संघों को एक सामान्य मंच दिया और इन्हें एक जुट रखा।

कर्नाटक में गैर-ब्राहमण आंदोलन का जन्म लगभग 1918 में हुआ। वोक्कालिग और लिंगायत जाति के लोगों ने इसे आगे बढ़ाया। 1918 में गैर-ब्राहमण नेताओं का एक शिष्टमंडल मैसूर के महाराजा से मिला और वहाँ उन्होंने गैर-ब्राहमणों के प्रति किए जाने वाले भेदभाव भरे व्यवहार का विरोध किया। इसके फलस्वरूप लेसली मिलर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ और 1919 में उसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मिलर की सिफारिश पर सरकार ने लोक सेवाओं में उचित साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए एक आदेश निकाला।

मैसूर राज्य में कांग्रेस आंदोलन के शुरू हो जाने के साथ गैर-ब्राहमण आंदोलन धीरे-धीरे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की ओर बढ़ने लगा और 1938 के अंत में कांग्रेस के साथ मिल गया। धर्मनिरपेक्ष राजनीति ने भी जाति पर आधारित माँगों को मान्यता दी चाहे वे कितनी भी अनुचित रही हों। इसके बावजूद भी परिणाम यह होता कि धर्मनिरपेक्ष माँगों के लिए भी

जाति संघो का ही बोलबाला रहता। कर्नाटक में यही गैर-ब्राहमण आंदोलन के साथ हुआ। 1930 और 40 के दशकों के दौरान गैर-ब्राहमण आंदोलन अपनी शक्ति खोने लगा और प्रत्येक जाति वर्ग ने अपने लिए प्रतिनिधि सभा और सरकारी सेवाओं में अलग से प्रतिनिधित्व की माँग करना शुरू कर दिया। इस तरह, 1940 के दशक से गैर-ब्राहमण आंदोलन एक पिछडी जातियों के आंदोलन में बदल गया विशेषकर 1950 के बाद दो प्रमुख समूह, बोक्कालिग और लिंगायत नई प्रतिनिधि राजनैतिक प्रणाली में शक्ति को बाँटने के लिए आपस में लड़ने लगे।

20.4 आंदोलनों का तुलनात्मक विश्लेषण

महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन की तुलना करने से विभिन्न दृष्टिकोण हमारे सामने उभर कर आते हैं। यह बात हम जाति-व्यवस्था से उत्पन्न असमानताओं तथा शूद्र जाति की सामाजिक-सांस्कृतिक अधीनता और उनके भौतिक पिछड़ेपन से समझ सकते हैं। वास्तव में कुछ ऐसे निर्णायक सामाजिक और धार्मिक तत्त्व थे जो इन सभी क्षेत्रों के गैर-ब्राह्मण समूहों के दमन में एकरूप में पाये गये अब हम इनकी एकरूपता और विभिन्नता के बारे में विचार करेंगे। यह अनुभव किया गया है कि उच्च जाति के ब्राह्मणों का धार्मिक रूढ़िवाद और जाति संरचना ही गैर-ब्राह्मण कृषक समूहों के सामाजिक सांस्कृतिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण थी और ये ही उनके आमूल सामाजिक सुधार के कार्यक्रम में मुख्य बाधक थे। दूसरे राज्यों से भिन्न, महाराष्ट्र में जोतिवा फुले ने सामाजिक असमानताओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया और उन्होंने शूद्रों की तरह माने जाने वाले गैर-ब्राह्मणों के व्यवहार में मौलिक परिवर्तन के लिए प्रभावशाली ढंग से कहा। उन्होंने विद्यमान धार्मिक विचारधारा और जाति पद्धति को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया था। 19वीं सदी के सामाजिक सुधारकों से भिन्न, फुले ने उनको आंतरिक रूप से सुधारने की कोई गुंजाइश नहीं देखी। सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए एक सैद्धांतिक आधार की स्थापना कर फुले ने अपनी महत्त्म योग्यता को प्रदर्शित किया। उन्होंने महाराष्ट्र की सभी निम्न जातियों के लिए एक सामूहिक पहचान को स्वरूप दिया। शूद्रो की पहचान का पता लगाने की कोशिश में, फुले ने महाराष्ट्र के योद्धाओं और कृषि परंपरा के प्रतीकों को लिया और उन्हें एक प्रभावशाली अर्थ दिया। फिर भी फुले में एक कमी थी कि वे ब्रिटिश शासन का समर्थन करते थे। उपनिवेशी शासन के वास्तविक स्वरूप को समझने में वे असफल रहे। कोल्हापुर के महाराजा के अधीन चलाये गए फुले के सामाजिक सुधार का स्वरूप भी बदल गया, क्योंकि महाराजा ने अपनी जाति के लिए क्षत्रीय हैसियत और चुनाव राजनीति पर जोर दिया था। मद्रास मे जस्टिस पार्टी और कर्नाटक में गैर-ब्राह्मण आन्दोलनों में अंग्रेजी शिक्षा, प्रांतीय विधान सभाओं और स्थानीय बोर्डों में ज्यादा प्रतिनिधित्व तथा सरकारी सेवाओं में आरक्षण पर बल दिया गया था। फिर भी आंध्र और तमिलनाडु में हुए आत्म-सम्मान आंदोलन में शिक्षा का विकास प्रमुख था।

तमिलनाडु में पेरियार ने ही स्त्रियों और गैर-ब्राह्मण समूहों के उत्थान के लिए अतिसुधारवादी विचारधारा को स्पष्ट किया था। दूसरे क्षेत्रों से भिन्न, पेरियार के नेतृत्व में हुए आत्म सम्मान आंदोलन ने विवाह पद्धति को सुधार कर जाति पद्धति को अस्वीकार कर शूद्रों और स्त्रियों के उद्धार को संघठित करने का प्रयास किया था। महाराष्ट्र के आंदोलन से तुलना करने पर हम देखते हैं कि पेरियार के आंदोलन का सामाजिक आधार ग्रामीण जमींदार वर्गों तथा नगर के व्यवसायिक समूहों तक ही सीमित था। इसलिए वे अछूतों को संघटित करने में असफल रहे।

इसी तरह तटीय आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन में उच्च जाति के गैर ब्राह्मणों-कम्मा, रेड्डी और वेलमा की प्रधानता थी। गैर ब्राह्मण वर्ग माला और मडिगा जैसे उन अछूतों को शामिल करने में असफल रहे जो खेतिहर मजदूरों के सबसे अधिक उत्पीड़ित हिस्से थे। आंदोलन का लक्ष्य केवल उच्च जाति के गैर ब्राह्मणों को सामाजिक रूप से ऊपर उठाना था। इसने जाति पद्धति के तर्काधार पर कभी कोई आपत्ति नहीं की। अधिश्रेणिक सिद्धांत को स्वयं अस्वीकार करने के बजाए वे अपनी स्थिति को पुनः अभिव्यक्त करने के लिए उस पर

और आश्रित होते गये। यह 19वीं सदी के महाराष्ट्र के आंदोलन के विपरीत था क्योंकि वहाँ फुले ने वर्णाश्रम धर्म को नकार दिया था। इसके फलस्वरूप गैर-ब्राह्मणों के बीच दरार पैदा हो गई और वे विभिन्न जाति समूहों में बँट गए और उन्होंने अच्छी शिक्षा, सरकारी नौकरियाँ और राजनीति में प्रतिनिधित्व जैसी अपनी तात्कालिक माँगों के बारे में आवाज उठानी शुरू कर दी। जैसा कि कर्नाटक में हुए आंदोलन में देखा गया कि धर्म निरपेक्ष माँगों को पेश करने के लिए भी जाति वर्ग का अधिक प्रयोग किया जाता था जो कि एक नकारात्मक प्रवृत्ति थी। 1947 में भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद यह नकारात्मक प्रवृत्ति और अधिक स्पष्ट हो गई।

बोध प्रश्न 2

1 पेरियार की विचारधारा किस प्रकार से आमूल सुधारवादी थी?

....

....

....

....

....

2 आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन की मुख्य रूपरेखा क्या थी?

....

....

....

....

....

3 कर्नाटक में गैर-ब्राह्मण आंदोलन पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

4 निम्नलिखित का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

क) महाराष्ट्र और तमिलनाडु में गैर-ब्राह्मण आंदोलन।

....

....

....

....

....

ख) तमिलनाडु और आंध्र में गैर-ब्राह्मण आंदोलन।

....

....

....

....

....

ग) तमिलनाडु की जस्टिस पार्टी और कर्नाटक का गैर-ब्राह्मण आंदोलन।

....

....

....

....

....

20.5 सारांश

इस इकाई में आपने देखा कि :

- पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था (जैसे जाति, स्त्रियों का दमन आदि) में दमन और पिछड़ेपन की पृष्ठभूमि के कारण ब्राह्मणवादी आंदोलन उभरा।
- महाराष्ट्र में साहू की राजनीति या दक्षिण में द्रविड़ कषगम की राजनीति ने कैसे उसके परिवर्तन के विशिष्ट आमूल सुधारवादी वातावरण को कम कर दिया (जिससे जस्टिस पार्टी और आत्म-सम्मान आंदोलन का जन्म हुआ)।
- भूस्वामी गैर-ब्राह्मण जातियों के बढ़ते प्रभाव और जिस ढंग से उन्होंने इस आंदोलन को सामाजिक और आर्थिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया, इन दोनों की वजह से इस आंदोलन के प्रभाव में कमी आयी।
- फलस्वरूप, ब्रिटिश शासन को पारंपरिक व्यवस्था के दमनकर्त्ता के रूप में देखने वाले इस दृष्टिकोण कभी कोई तबदीली नहीं आई।
- गैर-ब्राह्मण आन्दोलन कभी स्वतंत्र राष्ट्रवादी रणनीति के रूप में विकसित नहीं हुआ।
- इन आंदोलनो की शक्ति विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के तौर पर मद्रास में यह अछूतों तक पहुँचा ही नहीं, जबकि महाराष्ट्र में फुले निम्न जातियों की एक नई सामूहिक पहचान बनाने में सफल हुए।

20.6 शब्दावली

वैचारिक प्रभुत्ता : कोई विशेष विश्व दृष्टिकोण और उसकी विचारधारा की प्रधानता।

विवेकवाद : जीवन के सभी पहलुओं में तर्क लागू करने में विश्वास। मुख्यत: पुनर्जागरण के बाद के काल में यह विचार काफी बढ़ा।

स्त्रियों की आश्रितता : स्त्रियों की ऐतिहासिक स्थिति, जिसमें वे स्त्री जाति होने के कारण अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में पुरूषों पर आश्रित होती हैं। इस तरह के व्यवहार की झलक हमारे रोजमर्रा की जिंदगी में मिलती है, जिसके कारण स्त्री एक वस्तु बन कर रह गई है।

सर्वाधिकारवादी परिवारिक ढाँचा : यहाँ इसका संदर्भ परिवार की उस व्यवस्था से है जिसमें स्त्रियों को "उनके स्थान पर" तथा आश्रित रखा गया। परिवार संरचना को विभिन्न आर्थिक सामाजिक और रिश्तेदारी के बंधनों से बनाए रखा जाता है। जब इन बंधनों को पुरूष सदस्यों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जाता है तब यह संरचना सर्वाधिकारवादी या तानाशाह बन जाती है। स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकारों से वंचित करके या तलाक के कठोर नियमों को लागू करके इसे पूरा किया जाता है। इसके अलावा व्यवहारों और विश्वासों को इस प्रकार से बनाया गया है कि जिससे पुरुष का प्रभुत्व बना रहे और स्त्रियाँ मात्र खिलौना बन कर रह जाएँ।

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 20.2 भाग के पहले पैरा को पढ़े। आपका उत्तर समाज के चार वर्गों के विभाजन जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पर केंद्रित होना चाहिए इस पद्धति के कारण पवित्रता-

और अपवित्रता के किस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध विकसित हुए, इसका वर्णन कीजिए।

2 20.2.1 उपभाग का पहला पैरा पढ़िए। फुले के वैयक्तिक अनुभवों का वर्णन कीजिए।

3 20.2.1 उपभाग में समाज और अर्थव्यवसथा सम्बन्धी विचारों को पढ़िए। निम्नलिखित पर फुले की विचारधारा पर टिप्पणी लिखें:
i) जाति, ii) स्त्रियाँ, iii) धर्म, iv) मूर्तिपूजा, v) अर्थव्यवस्था तथा कृषकों की समस्याएँ, vi) ब्रिटिश शासन

4 20.2.1 उपभाग पढ़िए। शब्द की परिभाषा लिखें।

5 20.2.2 उपभाग पढ़िए। i) साहू महाराज की भूमिका ii) व्यावसायिक और भूस्वामी जातियों की भूमिका पर टिप्पणी लिखें।

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 20.3.3 पढ़िए। निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें :
i) पेरियार पर मार्क्सवाद का प्रभाव, ii) स्त्रियों की अवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण, iii) धर्म की तुलना में तर्क बुद्धिवाद पर उनका बल, iv) जाति और धर्म के सम्बन्ध में पेरियार के विचार।

2 उपभाग 20.3.4 पढ़िए, विशेषकर पैरा 4 से 7 पवित्र ग्रन्थों को चुनौती, स्त्रियों के उद्धार और आनुष्ठानिक प्राभुत्व को तोड़ने के प्रयासों पर प्रकाश डालिए ।

3 उपभाग 20.3.5 पढ़िए। जाति संघों के बीच सम्बन्ध तथा कांग्रेस से उनके सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

4 निम्नलिखित तीन प्रश्नों के लिए इकाई का 20.4 भाग पढ़िए। निम्नलिखित पर प्रकाश डालिए :

क) फुले द्वारा सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए सैद्धांतिक आधार। स्त्रियों और शूद्रों के उद्धार पर पेरियार का विशेष दृष्टिकोण। केवल भूस्वामी वर्ग तक सीमित पेरियार का सामाजिक आधार। निम्न जातियों पर फुले का प्रभाव

ख) तमिलनाडु में पेरियार के आंदोलन की तुलना में आंध्र में अतिसुधारवाद के जोर की कमी।

ग) कर्नाटक में धर्मनिरपेक्ष माँगों को प्रस्तुत करने के लिए जाति वर्ग का उपयोग। जस्टिस पार्टी उच्च जाति तक ही सीमित रही परंतु जाति पद्धति की पुनर्संरचना करने और उसके लिए लड़ने का प्रयास किया गया।